सदी संधिकालीन कोंकणी उपन्यास : प्रेरणा, प्रभाव एवं संभावनाएँ

किरण बुडकुले

दिक् एवं काल से हमें सृष्टि का बोध होता है। जिसमें दिक् के त्रिमीतीय आविष्कार के बिना प्रकृति सम्भव नहीं। मानवी अनुभव को समेटने-समझने के लिए काल का महत्व सर्वोपरि है। इसीलिए शायद काल-सापेक्षता मानव की मनोधारणा का एक अदृश्य लेकिन अटूट अंग है। काल-सापेक्षता का एक फायदा यह है कि उस के जरिए हम भूत के सन्दर्भ में वर्तमान घटनाओं को या क्रिया-कलापों को आँककर भविष्यकालीन सम्भावनाओं का अन्दाजा लगा सकते हैं। यह अलिखित नियम जैसे आम जीवन के बाकी अंगों पर लागू होता है, उसी तरह साहित्य की सम्भाव्य उपलक्ष्यों या उपलब्धियों को भाँपने में भी काम आता है।

वर्तमान दौर में कालप्रवाह के जिस पड़ाव पर हम खड़े हैं, वह अनेकानेक अर्थों में संक्रमण अवस्था का युग है। यह न केवल दो सदियों के दरम्यान का संधिकाल है, बल्कि दो सहस्रकों के दरम्यान का संधिकाल भी है। अपितु सहस्रकों का घटनापट इतना विस्तृत है, और समकालीन सूचना-प्रस्फोट के चलते उपलब्ध जानकारी इतनी विस्तृत हो सकती है कि किसी भी एक व्यक्ति के लिए प्रपत्र जैसे लघु-माध्यम के तहत उन घटनाओं का या उनसे जुड़ी काल-प्रक्रिया का ठीक तरह से जायजा लेना मुश्किल होगा। विवेचन करके उस पर ठोस निष्कर्ष निकालने की बात तो दूर रही। और तो और किसी भी आधुनिक भारतीय भाषा के पास इतना पर्याप्त निजी अनुभव तथा साहित्यिक कार्य-संचय नहीं होगा, न ही किसी अभ्यासक के पास इतनी दूरदृष्टि कि वह पिछले सहस्रक के संदर्भ में वर्तमान की चर्चा करके आनेवाले सहस्रक के सन्दर्भ में उसकी संभावनाओं का प्रक्षेपण करे। इसलिए प्रस्तुत प्रपत्र में केवल दो सदियों के सन्दर्भ में ही संधिकालीन कोंकणी साहित्य का और खासकर के उपन्यास का विचार किया गया है।

आधुनिक कोंकणी कथा-साहित्य का उद्‌गम लोक-साहित्य से ही हुआ लेकिन सही अर्थों में एक साहित्यिक विधा के रूप में आधुनिक उपन्यास का उद्‌भव तथा विकास कुल पाँच-छह दशक पहले ही आरम्भ हुआ। हाँ उन्नीसवीं शती के मध्य से कोंकणी में 'रोमांसिस' का निर्माण होने लगा था। यद्यपि सर्वप्रथम कोंकणी 'रोमांस' के बारे में स्पष्ट शब्दों में कुछ भी कहना पर्याप्त/ठोस जानकारी के अभाव में सम्भव नहीं है। अपितु, कोंकणी 'रोमांस' की पहली उपलब्ध कृति **जाकोब आनी दुल्स** (1882) है। इस कृति के अभाव में 'रोमांसिस' लिखने का जो सिलसिला शुरू हुआ उसमें जुआंव कायतान

द सौज, आन्तोन विसेंत द् क्रूज तथा एफ.एक्स. फेर्नांदिश का योगदान महत्वपूर्ण आँका गया है। लेकिन रोमांस लेखन का दर्जा ठीक नहीं पाया गया। डॉ. मनोहरराय सरदेसाय के अनुसार शुरू में 'रोमांसिस' लिखने वाले ज्यादातर लेखक विदेश में रहकर लौटे, विदेशी भाषा से वाकिफ व्यक्ति हुआ करते थे। इनका प्रयोजन था मनोरंजन के साथ-साथ प्रबोधन करना, लेकिन धीरे-धीरे शिक्षित लोगों ने इस 'रोमांस' लेखन प्रथा से मुँह मोड़ लिया और यह विधा अल्पशिक्षित परन्तु (Prolific) लेखकों के हाथ में चली गई। इससे इसके कथ्य तथा प्रयोजन में बदलाव आ गया। खुद लगभग 200 'रोमांसिस' लिखनेवाले रेजिनाल्द फेर्नांदिश इस बात को स्वीकार करते हुए कहते हैं कि, 'वे लेखक मुझ जैसे अल्प-शिक्षा प्राप्त पाठक वर्ग के लिए लिख रहे थे।' स्पष्ट है, कि ऐसी स्थिति में मूलतः भावी उपन्यास लेखन का कोई लक्षणीय लाभ साहित्य को नहीं हो सका। शायद इससे उपन्यास का नुकसान ही हुआ—एक साहित्यिक विधा के तौर पर भी तथा कथन-कथ्य की संभावनाओं के स्तर पर भी। और तो और, सुशिक्षित पाठक वर्ग इससे विमुख हो गया और जो वर्ग बना रहा वह एक पिटी पिटाई शैली और अपेक्षित शिल्प-कथ्य का आदी हो जाने से सक्षम साहित्य से वंचित ही रहा।

इस पृष्ठभूमि पर, 20वीं सदी के शुरुआती दौर में एदुआर्द ब्रूने द सौज द्वारा लिखित 'रोमांस' **क्रिश्तांव धराबो** (1905 में लिखा, 1991 में प्रकाशित : ईसाई परिवार) का विशेष उल्लेख आवश्यक। इसमें ईसाई धर्म-तथ्य एवं जीवन-दृष्टि के धरातल पर लेखक ने कोंकणी समाज-दर्शन के यथार्थवादी प्रयास को आदर्शवादी प्रयोजन से जोड़कर बखूबी पेश किया है, लेकिन ध्यान देनेवाली बात यह है कि ब्रून द सैजा तब गोवा में नहीं तत्कालीन मुम्बई प्रान्त के पुणे नगर में स्थित थे। इसलिए उनके कथ्य पर स्थानीय प्रभावों के साथ क्या कोई और भी प्रभाव रहा होगा? पुणे में रहने से क्या वे उभरते मराठी उपन्यास (और अनुवाद के द्वारा भारतीय उपन्यास) से परिचित थे? क्या उन्हें पोर्तुगीज, अंग्रेजी तथा अन्य यूरोपी उपन्यास प्रथाओं का ज्ञान था? ऐसे प्रश्नों के उत्तर अहम् महत्व रखते हैं। उनके उपन्यास के दो सूत्र हैं, ईसाई धर्मतत्व तथा कोंकणी भाषा की स्थिति।

यहाँ ध्यान रखना जरूरी है कि जब वृहद भारत पर अंग्रेजी हुकूमत चल रही थी, तब गोवा पुर्तगाली शासन के अन्तर्गत था। इसलिए इन अलग प्रान्तों में स्थानीय भाषाओं की स्थिति, आधुनिक साहित्यिक प्रथाओं का प्रसार उपन्यास जैसी विधा के प्रचलन की सम्भावना तथा अलग सांस्कृतिक एवं राजनयिक सन्दर्भों से प्राप्त प्रेरणाएँ भी भिन्न-भिन्न होना स्वाभाविक था। और फिर, अंग्रेज तथा पुर्तगाली सरकारों की अपनी **वसाहतों** में अपनी-अपनी राष्ट्रीय भाषाओं में (अनुक्रम से अंग्रेजी तथा पोर्तुगीज) शिक्षा प्रसार करने की नीतियाँ, लक्ष्य एवं साधन लक्षणीय मात्रा में भिन्न थे। उदाहरणार्थ, तत्कालीन मुम्बई प्रान्त में अंग्रेज सरकार की शिक्षा-नीति के तहत स्थानीय भाषा (मराठी) में अंग्रेजी साहित्य के अंशों का पाठ्यक्रम में प्राथमिकता दी जाती थी। मगर, गोवा में पुर्तगाली सरकार की शिक्षानीति के तहत केवल पोर्तुगीज के अध्ययन को अनिवार्यता तथा पोर्तुगीज संस्कृति एवं इतिहास को पाठ्यक्रम में प्राथमिकता मिलती थी।

कम संख्या में हों, लेकिन उच्च वर्ग के लोग-ज्यादातर ईसाई-यूरोप के साहित्य से तथा वहाँ की लेखन परम्पराओं से भली-भाँति परिचित थे। दुर्भाग्यवश, ये तथाकथित उच्चवर्गीय औपचारिक स्तर पर अपनी भाषा बोलने या उसे पढ़ने से इने गिने अपवादों को छोड़कर वंचित थे। घोर विडम्बना यह थी कि वे लिखते भी तो अन्य भाषाओं में थे, कोंकणी में नहीं। बीसवीं सदी के शुरू में पुर्तगाल में लोकतन्त्र स्थापित होने से गोवा को भी एक-दो दशक तक थोड़ी राहत मिली और इसी दौरान उच्च वर्ग के हिन्दू पुर्तगाली भाषा में उच्च शिक्षा प्राप्त करने लगे और इस भाषा के द्वारा अनुवादित यूरोपी उपन्यास से (विश्व साहित्य से भी) परिचित हो गए। इनमें दोनों में महत्वपूर्ण हैं—लक्ष्मणराव सरदेसाई तथा रवीन्द्र केलेकर—जिन्होंने बाद में कोंकणी में साहित्य रचना की तथा लघु उपन्यास लेखन भी किया। यहाँ कहना जरूरी है कि आम शिक्षार्थी हिन्दू-ज्यादातर उच्चवर्णीय-मराठी में प्राथमिक शिक्षा प्राप्त करते थे। उसके बाद उन्हें अनिवार्य पोर्तुगीज प्राथमिक शिक्षा लेनी पड़ती थी, तब जाके उच्च शिक्षा का मार्ग उनके लिए खुल जाता। यहाँ कहीं भी कोंकणी के लिए कोई स्थान नहीं था।

गोवा में एक साहित्यिक विधा के तौर पर उपन्यास प्रचलित था। लेकिन कोंकणी में नहीं पोर्तुगीज में। फ्रांसिस लुईस गॉमिश का 19वीं सदी में लिखित सुप्रसिद्ध पोर्तुगीज

उपन्यास 'उश ब्राम्मानिश' बहुत चर्चित रहा। उसका अनुवाद बीसवीं सदी में 'ब्राह्मण' शीर्षक से मराठी में प्रो. लक्षमणराव सरदेसाई ने किया था तो अंग्रेजी में प्रो. आर्मांद मिनेझिस ने। लेकिन उसका कोंकणी अनुवाद अब भी आना बाकी है। इसका खास उल्लेख करने का एक और कारण है कि उस उपन्यास की तत्कालीन फ्रांसिसी विद्वान लामर्तिश से हुई प्रशंसा तथा उस उपन्यास से जुड़ा लेखक का खत जिसमें भारतीय संस्कृति का गौरवशाली उल्लेख किया गया है। कहने का मतलब है कि कोंकणी भाषिक लेखक उपन्यास की विधा से परिचित थे लेकिन अपनी भाषा में लिखने में अवगत नहीं थे।

इस उपन्यास की कथन शैली एवं कथ्य दोनों लक्षणीय हैं। उसमें प्रचलित बुद्धिवाद, वर्णनात्मकता आदर्शवादी धारणा, वैचारिक मुद्दों का विवरणात्मक ब्यौरा, पात्रों की बहुलता, प्रबोधनपरकता आदि घटकों द्वारा तत्कालीन यूरोपीय उपन्यास का कथ्य भी कालानुरूप प्रतीत होता है। धर्मान्तरण की वास्तविकता ईसाई धर्म के प्रसार के परिणामस्वरूप उभर जाए अलग सांस्कृतिक यथार्थ का चित्रण तो मिलता ही है, साथ ही आम धर्मभीरू ईसाई व्यक्तियों की खासकर स्थानीय या विदेशस्थित पाद्री (धर्मगुरु) की मानवीय मूल्यों के प्रति आस्था एवं ईसाई धर्म की सर्वोपरि महत्ता के प्रति उनकी अटूट श्रद्धा को भी इस कृति द्वारा भाँपा जा सकता है। खुद उपन्यास लेखक की मानवतावादी जीवन धारणा का यहाँ प्रभावी दर्शन होता है। उपन्यास का कथ्य लेखक की उपेक्षितों के प्रति संवेदनशीलता का भी पर्याप्त दर्शन कराता है। मिसाल के तौर पर, छल या अपघात से धर्मान्तरित होने को बाध्य व्यक्ति के जीवन की भीषण वास्तविकता, ऐसे नवधर्मान्तरित व्यक्ति का विफल आक्रोश, उसमें जगती बंजर प्रतिकार या विद्रोह की भावना, उसके परिवार पर गुजरनेवाली असह्नीय स्थिति, विवशता से अपनी ही संस्कृति तथा सगे-सम्बन्धियों से क्षणमात्र में आत्मनिष्कासन, ऐसी निस्सहायता तथा अकेलेपन से जन्म लेने वाली परात्मकता की भावना तथा बदले की पिपासा, और ऐसी ध्वस्त मानसिकता के छल और कपट को ही शस्त्र बनाने पर विवश हो जाना—इन सारी क्रिया-प्रतिक्रियाओं की शृंखला उपन्यास में उभरती है।

लेकिन इस उपन्यास की एक खामी यह है कि इसका परिवेश पुर्तगाल शासित गोवा के बजाय ब्रिटिश भारत है। शायद तत्कालीन असहिष्णु शासन की तानाशाही प्रवृत्तियों तथा दमनकारी नीतियों से अपने उपन्यास को बचाने के लिए लेखक ने ऐसा प्रयास किया है। लेकिन ब्रिटिश भारत की पृष्ठभूमि से कथावस्तु का आशय पूरी तरह मेल नहीं खाता। उसी तरह उपन्यास में ईसाई धर्म को ही एकमेव प्रतीत उद्धारक, सर्वतारक विचारधारा के रूप में प्रस्तुत करना आधुनिक पाठक को अखरता है। लेकिन यह कथ्य की त्रुटि न होकर लेखक की जीवनदृष्टि का प्रामाणिक परिवर्तन है। वह केवल लेखक के पूर्वाग्रहों का परिणाम होने के बजाय उसके विश्वास एवं धारणाओं की सीमित व्याप्ति का फल है। अपितु इसे उस युग की कालबद्ध धारणा मानकर टाल देना उचित है। क्योंकि लेखक आमतौर पर प्रगतिशील विचारों में विश्वास करनेवाला है। उसके मन में भारतीय संस्कृति एवं परम्परा के प्रति आदर एवं सम्मान है। उसकी कृति का सबसे अहम् योगदान है : कालातीत मानवीय मूल्यों को कथ्य के द्वारा गरिमा प्रदान करना तथा समसामयिक तथ्यों से जुड़े एवं भारतीय सांस्कृतिक सन्दर्भ को उजागर करनेवाले साहित्यिक परिवेश का सृजन करना। इस उपन्यास का कहाँ तक प्रभाव पड़ा होगा यह भाँपना सम्भव नहीं।

शणै गोंयबाब का उपन्यास 'संवसार बुड्टी' (महाप्रलय) को कोंकणी आधुनिक उपन्यास का प्रवर्तक माना जाना चाहिए। अपने शिल्प के कारण 'संवसार बुड्टी' कथा-साहित्य में नहीं लेकिन सृजनात्मक गद्य साहित्य में तथा चिन्तन पर गद्य साहित्य में सम्मिलित होना चाहिए क्योंकि उसका स्वरूप चर्चात्मक, प्रकृति विचारप्रवण तथा विषय-प्रेरणा सृष्टि-विनाश का मिथक है। बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में लिखित यह उपन्यास शिल्प से अधिक कथ्य के रूप में भाषा तथा साहित्य के लिए प्रेरणा-स्रोत बना। इस सम्वादात्मक कृति की कुछ ठोस विशेषताएँ भावी कोंकणी उपन्यास की पथक्रमण पर निश्चित रूप से सहायक सिद्ध हुईं। एक तो कोंकणी भाषा की शब्दावली की विशेषताएँ उभर आईं, इस भाषा की अभिव्यक्ति की सहजता तथा कथन की शैलीगत विशेषताएँ निखर आईं। उपन्यास जैसी विधा को आवश्यक प्रतिभा एवं प्रज्ञा का एहसास भावी लेखकों को हुआ। और शणै गोंयबाब की कृति से पर्याप्त प्रेरणा भी प्राप्त हुई। इस कृति को कथनात्मक त्रुटियाँ जैसे घटित की कमी, संघर्ष का अभाव, चर्चा का बाहुल्य आदि के चलते भी उसकी साहित्यिक उपयोगिता

तथा सीमाएँ भावी लेखकों का पथ निर्देशन करने के लिए उपयुक्त साबित हुई। इसका प्रमाण हमारे लेखकों ने इस विधा को साहित्य-निर्माण के लिए, कविता-कहानी जैसे बाकी लोकप्रिय विधाओं के चलते हुए भी, चुनकर दिया है।

यहाँ यह बताना जरूरी है कि पुर्तगाली शासन के तहत कोंकणी का साहित्यिक/भाषिक विकास लगभग दो शतकों के लिए न केवल अटका था बल्कि कानूनी निर्बन्धों के जरिए पुर्तगाली सरहद के भीतर कोंकणी जनों की सांस्कृतिक अभिव्यक्ति पर पूरी तरह पाबन्दी लगा दी गई थी। इसलिए गोवा मुक्ति के पश्चात ही गोवा में कोंकणी का पुनुरुज्जीवन सही मायने में हुआ। खासकर स्थानीय भाषा में शैक्षणिक एवं साहित्यक स्तर पर नवनिर्माण शुरू होने से यह साध्य हुआ। यूँ तो उसकी नींव सन् 1930 ई. से लेकर 1945 ई. तक शणै गोंयबाब के अथक परिश्रमों के कारण एवं भाषा-संस्कृति-साहित्य के संवर्धन के उपलक्ष्य में सन् 1939 में स्थापित कोंकणी परिषद् के प्रयत्नों के कारण 20वीं शती के उत्तरार्ध में डाली गई थी। इस नव-निर्माण में जैसा कि अक्सर होता है—कविता एवं कहानी का बेजोड़ योगदान रहा है। इतना ही नहीं, मुक्ति पश्चात् गोवा वासियों के सम्मुख खड़े स्वतन्त्र प्रादेशिक अस्तित्व के मुद्दे पर भी इन विधाओं का (गद्य लेखन के साथ-साथ) बड़ा सबल सहयोग रहा। सन् 1965 से 1992 तक कोंकणी को इतनी शिकस्तों का सामना करना पड़ा है कि लेखकों का सामना करना पड़ा है लेखकों को भूमि-भाषा-अस्मिता का युद्ध निरन्तर लड़ना पड़ा है।

जब स्वतन्त्र भारत में बाकी भारतीय भाषाओं के लेखक अपनी कलम से वैचारिक क्रान्ति या सामाजिक आन्दोलन की बात छेड़ रहे थे तब कोंकणी लेखक सन् 1961 के पूर्व या तो मुक्ति-संग्राम में जुटा था या फिर मुक्त गोवा में सन् 1965 से ही अपनी भूमि के स्वतन्त्र प्रादेशिक अस्तित्व के लिए 'सार्वमत या ओपनियन पोल' के लिए जनजागृति कर रहा था। उसकी कलम जैसे उसकी जिह्वा पर बसी थी और वैचारिक द्वन्द्व के मुद्दे उसकी कलम पर हावी हुए थे। तब उसे न कि साहित्यिक प्रयोग करने में आस्था थी न वाङ्मयीन हेतुओं की चिन्ता। सन् 1967 में गोवा के स्वतन्त्र अस्तित्व पर मुहर लगी लेकिन अभी वह दीव-दमण के साथ केन्द्र-शासित प्रदेश था। भाषावार-प्रान्त रचना पर खड़े भारतीय प्रजासत्तात्मक में कोंकणी को अपनी सही पहचान एवं विकास की दिशा पाने के लिए आवश्यक था कि गोवा स्वतन्त्र राज्य हो तथा कोंकणी उसकी राजभाषा बने। कोंकणी लेखकों के प्रयत्न से तथा अथक प्रयासों से सन् 1975 में साहित्य अकादेमी ने उसे स्वतन्त्र भाषा करार दिया। इसी आधार पर सन् 1987 में प्रखर आन्दोलन के पश्चात गोवा स्वतन्त्र राज्य बना। सन् 1992 में भारतीय संविधान के तहत कोंकणी का 8वें परिशिष्ट में अन्तर्भाव किया गया। ऐसे माहौल में उपन्यास जैसे आह्वानत्मक विधा के लिए न फुर्सत थी न स्थान। लेकिन लेखक लिखने से उन्मुख न था। इसका प्रमाण पुंडलीक नायक के 'अच्छेव' नामक लक्षणीय एवं प्रभावशाली उपन्यास के सन् 1977 में हुए पर्दापण से मिलता है। इसके पूर्व उन्हीं का लघु उपन्यास 'बाबर' बहुचर्चित लेकिन प्रभाव के तौर पर सामान्य रहा।

उपरोक्त तथ्यों को उजागर किए बिना सदी संधिकालीन कोंकणी साहित्य के शिल्प तथा सँभावनाओं की चर्चा सन्दर्भहीन अर्थहीन एवं अनावश्यक लग सकती है। कोंकणी साहित्य के हर अभ्यासक को कोंकणी साहित्य—भाषा का भारतीय सन्दर्भ में अध्ययन करते समय यह मौलिक फर्क ध्यान रखना जरूरी है कि जब तमिल, बंगला, हिन्दी या मराठी जैसी प्रस्थापित भारतीय भाषाएँ अपनी डेढ़ शतीय ब्रिटिश हुकूमत के दौरान आधुनिकता के दौर के आधार पर जिन समान प्रभावों का पाथेय लेकर उत्तरोत्तर विकसित हो रही थी तब साढ़े चार सौ साल विदेशी हुकूमत के नीचे दबे गोवा में पोर्तुगाली साम्राज्यवाद की दमनकारी नीतियों से पीड़ित कोंकणी संस्कृति-साहित्य भाषा को कोई ऐसा पाथेय उपलब्ध नहीं था। हालाँकि उन समृद्ध भगिनि भाषाओं की सदी-संधिकालीन स्थिति जिन उपलब्धियों से सम्पन्न है उन्हें समान्तर उपलब्धियों के निर्माण करने का काल सच्चे अर्थ में 1975 से लेकर 1995 तक के कालपर्व में ही कोंकणी को मिला क्योंकि 1975 में साहित्य अकादमी की मान्यता मिलने से ही कोंकणी भाषा तथा साहित्य के विकास को अभूतपूर्व प्रेरणा मिली।

यह अपने आपमें एक आश्चर्यजनक विडम्बना है। इसलिए शती संधिकाल के रूप में अगर 1995 से 2005 तक की कालसीमा हम सुविधा के लिए आँक भी लें तो सही अर्थ में स्वतन्त्र आधुनिक उपन्यास के विकास का काल

उपरोक्त दो-ढाई दशकों का ही माना जाना चाहिए। इस काल के तीन प्रतिनिधिक उपन्यासकार पुण्डलीक नायक 'अच्छेव' (1977), दामोदर मावजो 'कार्मेलीन' (1987), महाबलेश्वर सैल 'काली गंगा' (1990) है। तथा इन रचनाओं को मिली लोकप्रियता, लोकमान्यता तथा इनके पश्चात-पथिकों को मिली प्रेरणा का महत्व विशद किए बिना सदी संधिकालीन कोंकणी उपन्यास की चर्चा साधार नहीं होगी।

लेकिन उससे पहले, शणै गोंयबाब की परम्परा को लेकर साम्प्रत उपन्यास लेखन में अग्रसर रहे बाकी लेखक-लेखिकाओं का अल्प परिचय यहाँ आवश्यक है। स्पष्ट है, कि इससे समकालीन उपन्यास के आशय-विषय की सम्पन्नता तथा विविधता, या कथन एवं कथ्य के उद्घाटन में किए गए प्रयोगों की विशेषता या सामान्यता का अन्दाजा लगाया जा सकता है। इसके पश्चात् इस पृष्ठभूमि पर उपरोक्ता प्रातिनिधिक उपन्यासों में दृष्य कथ्य एवं शिल्प की मौलिकता तथा उनके प्रभाव की सम्भावनाओं का सही अर्थ में जायजा लिया जा सकता है।

शणै गोयंबाब अपने समकालीनों में खास उल्लेखनीय हैं। कथा साहित्यकार लक्ष्मणराव सरदेसाई तथा कवि एवं कथा-साहित्यकार बाकीबाब बोरकार। दोनों ही विश्व साहित्य के बहुत बड़े जानकार थे, संस्कृत तथा देशी भाषाओं के साथ-साथ फ्रेंच-पोर्तुगीज जैसी भाषा में माहिर थे। अपने युग के अनुकूल दोनों स्वभाषा अभिमानी, आदर्शवादी, शिक्षक तथा बेजोड़ स्वतन्त्रता सेनानी थे। और तो और, दोनों ही तत्कालीन साहित्य-परम्परा के अनुसार मराठी में लिखा करते थे और आगे चलकर मराठी साहित्य के सशक्त हस्ताक्षर बनकर उभरे। इनके मराठी कथा साहित्य ने उपन्यास की परम्परा में सफल योगदान दिया है। लेकिन इनका उत्तरकालीन साहित्य जीवन कोंकणी साहित्य को सक्षम बनाने में बीता। इन दोनों का प्रभाव अगली पीढ़ी पर पड़ा, लेकिन वह उपन्यास की विधा तक सीमित है ऐसा नहीं कहा जा सकता। उन्होंने कोंकणी लेखक की मनोभूमि, भाषाशैली तथा उसकी प्रतिबद्धता को उत्तेजना दी। लक्ष्मणराव सरदेसाई का **'पापडां कवलयो'** (पापड़ की परतें) नामक लघु उपन्यास है। इसमें उनके स्वाभाविक सुभग कथन शैली की, पठनीयता की तथा नर्म-विनोद की झाँकी मिलती है।

अगली पीढ़ी के ख्यातनाम कोंकणी गद्य लेखक हैं रवीन्द्र केलेकर तथा चन्द्रकान्त केणी। ये भी गोवा मुक्ति संग्राम से जुड़े रहे लेकिन इनका विशेष योगदान कोंकणी भाषा आन्दोलन के दौरान तथा कोंकणी में परिपूर्ण साहित्य निर्माण के एकमेव लक्ष्य को लेकर रहा है। मूलतः ललित गद्य लेखक रवीन्द्र केलेकर का लघु उपन्यास तुलसी, लेख का कथा साहित्य की दिशा में एक प्रयोगशील कदम है। इसमें तत्कालीन सामाजिक यथार्थ, पुरुषप्रधान मानसिकता की नारी के प्रति रही दोहरी नीति, नैतिकता के खोखले मापदण्ड और वैधव्य से ग्रस्त होने पर, सुरक्षित सामाजिक स्तर की महिलाओं की भी शोषण पात्र बन जाने की संभावना तुलसी में उद्घाटित होता है। इस लेख की उदारमततावादी धारणा, समाज सुधार तथा परिवर्तन के लिए प्रतिबद्धता और अप्रतिम अभिव्यक्ति इस लघु उपन्यास को पठनीयता प्रदान करती है। लेकिन इस विधा के लिए आवश्यक कल्पनाशक्ति के अभाव में सुभग कथनशैली के बावजूल कथानक में ठहराव आ जाता है। आदर्शवाद यथार्थ पर हावी होकर जीत नहीं पाता। स्त्री-पुरुष मित्रता की महत्ता दिखानेवाला कथ्य आखिरकार अनिष्ट परम्परा के आगे झुक जाता है। कथानक में अक्सर एक कृत्रिमता का आभास सर उठाता है। इससे कृति की प्रबोधन प्रवणता बढ़ती हो, लेकिन सुन्दरता में क्षति होती है।

गोवा मुक्ति पूर्व काल में अपने साहित्यिक जीवन की नींव डालने वाले, चन्द्रकान्त केणी मुक्ति पश्चात उभरे साहित्यकारों के साम्प्रत सहयोगी हैं तथा अपनी अगली पीढ़ी से उन्हें जोड़नेवाले सेतु भी। चन्द्रकान्त केणी के विशाल कथा-साहित्य में चन्द उपन्यास भी शामिल हैं जिनमें से 'बर्मी डैज' तथा 'विराट' से ज्यादा पाठक परिचित हैं। केणी का साहित्य उनकी सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति, अनोखी वर्णनक्षमता, भावाकुलता तथा लालित्यपूर्ण अभिव्यक्ति की बेजोड़ मिसाल है। यही इनकी कथनशैली के प्रमुख अंग हैं। पेशे से पत्रकार तथा प्रवृत्ति से यायावर रहे केणी में पत्रकार की वस्तुनिष्ठता, यान्त्रिक की तटस्थता तथा जीवनप्रेमी की सौन्दर्य पिपासा विद्यमान है। इससे उनके उपन्यासों के शिल्प में यशार्थ, ऐतिहासिक दृष्टिकोण तथा कल्पनासृष्टि का एक साथ सृजन सम्भव होता है। परन्तु उनका स्वाभाविक झुकाव कल्पित से ज्यादा घटित पर, तथा चरित्र गठन के बजाय प्रसंग चित्रण की ओर होता है। आशयघनता की अपेक्षा वर्णनात्मकता

तथा संभाषण कुशलता उनका साहित्यिक ध्यान बटोर लेते हैं। इससे कथानक में एक अनोखी पठनीयता अवश्य आती है परन्तु कथ्य पाठक के मन को नहीं झकझोर पाता। उसकी रमणीयता उसको आकर्षित करती है।

समकालीन पीढ़ी के अन्य उपन्यास लेखकों में दत्ता श्री, नायक, तुकाराम शेट, हेमा नायक के नाम महत्वपूर्ण हैं। इनके बाद उभरे उपन्यास लेखकों में अवधूत कुडतरकर, देविदास कदम और अशोक कामत, ज्योति कुकलकर शामिल हैं। लघु उपन्यास लेखन में प्रमुख नाम हैं। गोकुलदास प्रभु, शांता खाण्डेपारकर, रमेश वेलुस्कार, दिलीप बोरकर, सुजाता सिंगबाल आदि।

दत्ता श्री. नायक का उपन्यास हुँवार, 1960 के दशक में पुणे में आई बाढ़ की आपातकालीन पृष्ठभूमि पर लिखा गया है। एक परिवार को मद्देनजर रखते हुए लेखक ने बाढ़जन्य इलाके का बखूबी चित्रण किया है। अपने कथानक में लेखक ने समसामयिक यथार्थ, मध्यवर्गीय मूल्य एवं आदर्श तथा मनोविश्लेषणात्मक चरित्र-चित्रण का मोहक समन्वय साध्य लिया है। हुँवार कोंकणी उपन्यासों में सर्वप्रथम तथा अब तक सबसे सफल मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद की मिसाल है। लेकिन कथानक में उत्तरोत्तर एक पूर्व नियोजित लगने वाली (Bell Jar) स्थिति पैदा होती है जो कथ्य पर हावी होकर इस लक्षणीय उपन्यास के शिल्प को क्षति पहुँचाती है।

तुकाराम शेट की पांखलो (गोरा आदमी) शीर्षक से तो रवीन्द्रनाथ टैगोर के गोरा उपन्यास की याद जरूर दिलाता है। लेकिन दोनों कृतियों में और कोई विशिष्ट समानता दिखाई नहीं देती। उपन्यास का नायक एक गोरे अम्मलदार किए गए स्थानीय युवती के बलात्कार की उपज है और जन्म से ही जन उपेक्षा झेलने के लिए अभिशप्त है। इस कृति में निरन्तर उभरती संकटों की लड़ी से कथानक ढाँचा बन जाता है। कई घटनाएँ दैव-नियोजित-सी लगती हैं। वास्तविकता तथा आदर्श का जोड़ सही नहीं बैठता। इससे उपन्यास का लक्षणीय कथा गहराने के बजाय ठहरा हुआ-सा लगता है। फिर भी, अपने निजी, सामाजिक परिवेश में भी परात्मकता का भाव लेकर जीने को बाध्य व्यक्तिविशेष को आधोरेखित करके इस उपन्यास ने कथ्य को एक नई दिशा दी है। शिल्पीय कलात्मकता तथा शैलीगत कल्पनाशक्ति के अभाव में इस उपन्यास के आशय की सरुभावनाएँ सीमित रह जाती हैं। नहीं तो हाशिए पर स्थित मानसिकता का एक अनोखा दर्शन इस उपन्यास द्वारा होता।

फा. आंतोनियु परैरा कोंकणी साहित्य एवं साहित्य-इतिहास के एक सक्षम हस्ताक्षर हैं। उनका उपन्यास **वादक आनी वारें** (तूफान और हवा) बहुत पहले लिखा होकर भी (रोमन लिपि में लिखा होने से) हर स्तर के आम शिक्षित पाठक से कई साल तक वंचित रहा। उसका लिप्यन्तरित अवतार हाल ही में बिम्ब नामक कोंकणी (मासिक) नियतकालिक से पाठकों तक पहुँचा। लेखक ने अपने पर मॉसिर वेस्ट तथा पर्ल बक जैसे ख्यातनाम उपन्यास लेखकों का प्रभाव खुले मन से स्वीकार किया है। अपनी इस कृति को उन्होंने 'किसी धर्मगुरु की मन को छू लेने वाली कहानी' कहा है। उसमें धार्मिक वातावरण, पाद्री जीवन का ध्येय तथा पादरी बलवंत के पथ में उठने वाले आह्वानों के साथ-साथ, सामान्य सांसारिक जीवन, समसामयिक सामाजिक मुद्दे, स्वराज्य की अभिलाषा तथा आदर्शवादी जीवन-दृष्टि का सुभग संगम हुआ है। लेकिन कलात्मकता, कथावस्तु वैविध्य तथा कल्पनाशक्ति को और मुखर बनाने से यह उपन्यास केवल एक मील का पत्थर न रहकर कोंकणी उपन्यास का एक उपयुक्त दीपस्तम्भ बन जाता।

भोगदण्ड हेमा नायक की एक सफल कृति है। लेखिका ने पहले **निर्बला** और **मुक्ति** नाम दो लघु उपन्यासों का सृजन किया है। लेकिन **भोगदण्ड** में उनकी सृजनक्षमता प्रगल्भ होती नजर आती है। इस नारी-केन्द्रित उपन्यास में स्त्री जीवन के उपेक्षित पहलू को प्रभावी ढंग से सामने लाने का प्रयास किया गया है। पात्रों के मनोभाव तथा उनकी विशिष्टता इस उपन्यास में लक्षणीय रूप में प्रस्तुत है। लेकिन कार्यकारण भाव की अपेक्षागत आपूर्ति नहीं होती। साथ ही मौलिक स्तर पर कोई सकारात्मक द्रष्टान्त नहीं उभरता और तो और प्रगल्भ पाठक को जँचनेवाला परिपक्व दृष्टिकोण नहीं उभरता। लेकिन फिर भी इन उपन्यास के कथन द्वारा स्त्रीवादी विचारधारा को बल मिलता है क्योंकि लेखिका ने अपनी नायिका को आचार, विचार तथा उच्चार का स्वातन्त्र्य प्रदान किया है। मगर उसकी आकांक्षाओं की पूर्ति को केवल इच्छा को ठोस नैतिक नींव मिल जाती तो उपन्यास में चार चाँद लग जाते।

ऐसी ही स्त्रीवादी धारणा से प्रेरित, लेकिन यथार्थ से

की अतिरंजित तथा समकालीन उदारमतवादी नीतिमत्ता के दायरे से खूब आगे निकाला हुआ प्रयास है ज्योति कुंकलयेकार का उपन्यास **पाषाण कली** (संग-ए-मरमर की कली)। इसका कथानक संवेदी व्यक्ति को आसानी से छू नहीं सकता। नारी मुक्ति तथा उसका विचार-स्वातन्त्र्य उपन्यास में रेखांकित करने का प्रयास नजर आता है। लेकिन तर्क, नैतिकता, बुद्धि तथा सामाजिक संकेतों के सारे रास्ते छोड़कर जो स्त्री खुद्दारी तथा स्वतन्त्रता का पथ अपनाना चाहती हो, उसे सैक्स, भोगविलासिता तथा ओछी आत्ममग्नता में डूबकर अन्त में अपनी जवाबदेही से मुकर जाते देखकर पाठक का मोहभंग हो जाता है। मुख्य स्त्री-चरित्र की कल्पना ही आभासमय प्रतीत होती है। तथा उसका अन्तिम निर्णय केवल पलायनवादी आत्मवंचना! अगर यह उपन्यास सैक्स के सनसनीखेज छलावों से पल्ला छुड़ाकर कथावस्तु की ताकत भाँप पाता तो उसके कथ्य की सँभावनाएँ बढ़ जातीं।

इन उपन्यास लेखिकाओं के साथ दो और सक्षम नाम जोड़ने चाहिए—शान्ता खांडेपारकर तथा सुजाता सिंगबाल। ये दोनों सामाजिक विषयों पर लिखती हैं लेकिन इनका लक्ष्य स्त्री संवेदना तथा स्त्री जीवन होता है। दोनों ने एक-एक लघु-उपन्यास लिखा है। शांता खांडेपारकर की कृति का नाम है **अंतरपाट** और उसका विषय है अन्तरधार्मिक विवाह। लेखिका ने 'अंतरपाट' शब्द का प्रतीकात्मक प्रयोग करके अपने शीर्षक का मूल्य बढ़ाया है बल्कि इस प्रतिमा के द्वारा उपन्यास का आशय भी सखोल और संश्लिष्ट बन गया है। यूँ तो गोवा में हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्ध अच्छे रहे हैं अपितु घनिष्ट नहीं, जैसे हिन्दू-ईसाइयों के बीच दिखाई देते हैं। परन्तु अन्तरपाट में हिन्दू मुस्लिम व्यक्तियों के बीच विवाह के विषय को केन्द्रस्थान दिया है। ऐसे रिश्तों से उठ खड़ा होता बवाल, भावनिक छटपटाहट अपने-पराएपन का फिसलता बिगड़ता एहसास, सामाजिक रीति रिवाजों का दबाव तथा पारिवारिक मानसिक दुविधाओं के बीच जीने की कोशिश को लेखिका ने अपने विवेचन का लक्ष्य बनाया है। लेकिन अनुभव की पर्याप्त मात्रा, और वैचारिक प्रगल्भता से कृति और सबल हो जाती। इस कृति का लघु स्वरूप भी शायद लेखिका को पर्याप्त मौका नहीं दे पाता कि वह एक सशक्त कलाबीज को पूर्ण विकसित रूप में प्रस्तुत कर सके। फिर भी यह अलग प्रयोग लेखिका के जीवनपरक दृष्टिकोण तथा कथ्य के नजरिए से पाठक को आश्वस्त कर देने वाला उपन्यास है।

उपरोक्त लेखिकाओं के बीच एक सदी संधिकालीन युवा स्त्री लेखिका के रूप में सुजाता सिंगबाल का उल्लेख निहायत जरूरी है। उनका लघु उपन्यास **एके जिणेची काणी** चरित्रात्मक तथा नारी केन्द्रित है। दो पीढ़ियों के सन्दर्भ में एक नारी के जीवन का दुःख प्रतारणा वंचना से युक्त यह आलेख कहीं-कहीं मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यास **कस्तूरी कुण्डल बसै** की याद दिलाता है। जहाँ मैत्रेयी अपने ही जीवन के पट को खोलकर उसमें अर्थानर्थ खोजती हैं, वहीं सुजाता 'किसी संसंवेदी नजरिए से लेखिका चरित्र नायिका को देखती है। उसके साथ ही दो स्त्रियों के जीवन के चढ़ाव-उतार मानसिक भावनिक छल-छलावे, शारीरिक सामाजिक शोषण, पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री की यथार्थ स्थिति आदि तथ्यों को जान-पहचानवाली सुहृदा' की कहानी को शब्दबद्ध करना चाहती है कि वह रंग की तरह 'उड़ न जाए' (फीका न पड़ जाए)। संसंवेदी नजरिए से लेखिका चरित्र नायिका को देखती है। उसके साथ ही दो पीढ़ियों के स्त्रियों के जीवन के चढ़ाव-उतार मानसिक भावनिक छल-छलावे, शारीरिक-सामाजिक शोषण, पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री की यथार्थ स्थिति आदि तथ्यों को वह उजागर करती है। यह सदी संधिकालीन युवा लेखिका का प्रयोग अपने समकालीन पुरुष लेखकों के सन्दर्भ, संवेदना तथा स्वानुभूति के अंगों से देखा जाए तो अलग है। वह परिवार, रिश्ते, भावनिक सन्दर्भों को सामाजिक तथ्यों से ज्यादा प्रभावी ढंग से पेश करती है।

अवधूत कुडतकर मराठी के ख्यातनाम लेखक हैं। उनका **दिगंबर** नामक मराठी उपन्यास **शक्तिपात** शीर्षक से कोंकणी में पुनःसर्जित हुआ है। व्यक्तिनिष्ठ आध्यात्मिक अनुभूति एवं असाधारण आन्तरिक व्यवस्था के द्वन्द्व से ग्रस्त सीधे-सादे दिगम्बर नामक व्यक्ति की यह कहानी है। तन्त्रकुशल ढंग से लेखक ने स्वीकार्य व्यावहारिक जीवन एवं अगम्य अनुभव विश्व का सुभग संयोग साध्य किया है। कल्पनाशक्ति के प्रभावी संचलन से 'शक्तिपात' कोंकणी उपन्यास की भावी संभावनाओं को विषय के स्तर पर तथा कथ्य/आशय के स्तर पर भी प्रबल बनाता है। इस अनूठी कृति में मानवी जीवन में संभव-असंभव की फिसलती भूमि को मयसभा की

भाँति पेश किया गया है। कुछ घटनाओं तथा चरित्रों को और बारीकी से गढ़ा जाता तो उपन्यास और प्रभावी बन जाता।

पुण्डलीक नायक तो एक बहुआयामी लेखक हैं। उन्हें कोंकणी साहित्य के सक्षम हस्ताक्षर माना जाता है। उनका उपन्यास अच्छेव कथ्य एवं शिल्प, तथा परिणामकारिता एवं प्रभाव के दोहरे मापदण्डों पर खरा उतरता है। तन्त्रकुशलता का लक्षणीय उदाहरण इस कृति में मिलता है। अव्यक्तिगत निवेदन, निवेदन क्रम में परिवर्तन, चित्रमयता का वर्णनात्मकता से अनुबन्ध, बहु-आयामयुक्त कथानक तथा गहरा कथ्य इस उपन्यास को कोंकणी साहित्य विश्व में एक अलग स्थान दिलाता है। इस कृति द्वारा पहली बार इतने प्रभावी ढंग से श्रमजीवी वर्ग का सजीव दर्शन कोंकणी उपन्यास में हुआ है। कथ्य का स्पष्ट संकेत निरंकुश खान उद्योग से स्थानीय ग्राम-संस्कृति के समूल ध्वस्त हो जाने के भीषण तथ्य की ओर है। सामाजिक वास्तविकता को न केवल मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण का आधार मिलता है बल्कि फिसलती नितिमत्ता के झिंझोड़ते यथार्थ की मार भी सहनी पड़ती है। उपन्यास में प्राकृतिक परिवेश जितना सजीव बनकर उभरता है उतनी ही उसमें दृश्य सांस्कृतिक विशेषताएँ पाठक को लोकजीवन के नजदीक ले जाती हैं।

उपन्यास में पात्रों की विविधता तथा लक्षणीयता पाठक का मन मोह लेती है लेकिन कोई भी पात्र 'लार्जर देन लायफ' बनकर नहीं उभरता। परन्तु आशय गहनता के कारण कथ्य से जीवन की फांक (a Slice of Life) निश्चित तौर पर उभर आती है। कुछ महत्वपूर्ण पात्रों की क्रिया-प्रक्रिया के दौरान कार्यकारण भाव अपर्याप्त होना पाठक को कुछेक बार अखरता है। फिर भी अच्छेव एक परिपूर्ण चित्र है—लोकजीवन का, समाज व्यवस्था का, परिवर्तन के मूल्य का। कृषिप्रधान समाज का पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की ओर पटरी बदलने से, समाज में होने वाले अनिष्ट बदलावों की, अपरिहार्य भौतिकतावाद की, भोगवादी जीवनशैली की, सामान्यजनों के नैतिक स्खलन की तथा इन सबसे जुड़े अमूल्य मानवीय मूल्यों के अपरिमित ह्रास की पीड़ा का अच्छेव दस्तावेज है। इसके दूरगामी प्रभाव को साम्प्रत सदी संधिकालीन उपन्यास जैसे देविदास कदम की दिका में बड़ी मात्रा में आँका जा सकता है।

दामोदर मावजो का उपन्यास कार्मेलीन, अच्छेव के सामाजिक वास्तव को समेटकर, एक चरित्र नायिका के माध्यम से उसे अलग सन्दर्भ में लेकिन उतने परिणामकारी ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयास है। कार्मेलीन का सामाजिक वातावरण अच्छेव के कृषिप्रधान समाज को समान्तर लेकिन भिन्न उपसांस्कृतिक छटायुक्त-सागरतटीय ईसाई समाज जीवन का आलेख है। बहुत ही संवेदनशील दृष्टि से तथा सकुशल निवेदन शैली से लेखक ने एक कनिष्ठ वर्गीय अबला नारी के संघर्ष की महागाथा रची है। कार्मेलीन का चरित्र कोंकणी उपन्यास को दी हुई एक अनूठी भेंट है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से युक्त कथानक पाठक को हर मोड़ पर अपनी चरित्र नायिका के और समीप ला खड़ा कर देता है। उपन्यास की पात्र योजना इतनी सबल और सजीव लगती है कि शायद ही ऐसे जीवन्त पात्र अन्य कृतियों में (सैल के काली गंगा का अपवाद छोड़कर) मिले। कथावस्तु का पूरा ढाँचा कार्मेलीन तथा अनुभवों पर निर्भर रहता है। लेकिन लेखक की कुशल निवेदन क्षमता, वस्तुनिष्ठ, कथन-शैली तथा ऐतिहासिक सन्दर्भों के सूचक प्रयोगों से, पाठक को वास्तव जीवन का एहसास दिलाते हैं। सबल द्रष्टान्त से युक्त यह उपन्यास एक शोषित, पीड़ित अबला को आत्मशक्ति, आत्मगौरव तथा त्याग का प्रतीक बना देता है। अत्यन्त सहज भाव से कार्मेलीन पाठक के अन्तर्मन को छू लेती है। उसका सामाजिक स्तर, उसका शारीरिक शोषण उसे दुर्बल नहीं बनाते, बल्कि उसकी जीजिविषा को प्रबल बनाते हैं। उसकी सजग नैतिक मूल्य दृष्टि उसे आदर का स्थान दिलाती है।

महाबलेश्वर सैल कोंकणी उपन्यास के सबसे सक्रिय, सफल एवं सक्षम हस्ताक्षर हैं (काली गंगा उपन्यास के पश्चात् महाबलेश्वर सैल ने एक और महागाथा युगसांवार लिखा है।)

काली गंगा में मन को छू लेनेवाली कथनशैली, सजीव चरित्र, छोटी-छोटी लेकिन विश्वसार्ह घटनाएँ मिलकर एक अनोखा कथ्य सामने ला खड़ा कर देती हैं। उपन्यास में परम्परानिष्ठ चेतनाहीन सामाजिक परिवेश, उसकी गतिशून्य मानसिकता, प्रतिगामी विचारधारा की प्रबलता तथा मानवजीवन के निरन्तर स्वार्थ के परिणामस्वरूप कालबाह्य रीति-रिवाजों को हावी होने देने की प्रवृत्ति एक ओर है। यह यथार्थ है। दूसरी ओर उसी में समय-समय पर उठती चेतना की लहरें, मानवी सहृदयता का साक्षात्कार, पुरोगामित्व की ओर अग्रसर

होने का निर्धार और अन्त में पाशवी बल के सन्मुख परास्त होने को बाध्य प्रगतिशीलता के मूक हार। एक और दृष्टि से देखा जाए तो काली गंगा भारतीय कृषि जीवन एवं श्रम संस्कृति का आलेख है, भारतीय किसान के सुख-दुःख के हिंडोले का जैसे प्रतीक है। इसमें कथ्य के प्रभावी संचलन के साथ-साथ लेखक ने सचेत, वास्तवयुक्त, विशिष्टतापूर्ण लेकिन फिर भी भारतीय किसान जीवन की झाँकी दिखानेवाले पात्र सर्जित किए हैं। वे अपने आप में एक अगल व्यक्तित्व भी रखते हैं लेकिन उनमें एक अनोखी प्रतिनिधिकता भी हैं। इसमें दो प्रमुख नारी पात्र हैं और वे अपने आप में भारतीय नारी की सामाजिक तथा मानसिक वास्तविकता का समूचा प्रतिनिधत्व करती हैं।

युगसांवर सैल की नवीनतम कृति है। लेकिन वह कई सदियों पीछे जाकर गोवा के परम्परागत, गलितगात्र समाज जीवन पर पुर्तगाली शासन के तहत धर्मान्ध चर्च सत्ता से किए गए–'इन्किजिशन' के अमानवीय कथ्य को सजीव करती है। कई साल बारीकी से ऐतिहासिक सन्दर्भ तथा ग्रन्थ जुटाने के पश्चात ही लेखक इस भीषण पर्व को उपन्यास के रूप में ढाल पाया है। यहाँ उसकी सम्पूर्ण प्रतिभा को, प्रज्ञा को तथा कल्पकता को गहन कथ्य की गर्भित जरुरतों ने जैसे ललकारा है। कालसाक्षेप सामाजिक परिवेश का निर्माण, युगानुरूप संस्कृति विशेष एवं अवशेष कथन में पिरोना, देश, काल तथा सामाजिक वर्ण विशेष के अनुसार भाषा प्रयोग एवं जीवन शैली का सृजन करना ऐतिहासिक सन्दर्भों को अनुकूल प्रसंग/घटनाएँ तथा पात्र निर्माण करना, हर पात्र को अपनी विशिष्ट पहचान दिलाना–ऐसे अनेकानेक आह्वानों से भिड़कर यह उपन्यास उभरा है।

'दिका' देविदास कदम का पहला सम्पूर्ण प्रकाशित उपन्यास है। इसके पहले भी उन्होंने एक उपन्यास किसतों में प्रकाशित करने का प्रयास किया था लेकिन वह पूरा न हो पाया। अपितु उस लेखन अनुभव ने उन्हें प्रस्तुत उपन्यास के सृजन में कुछ योगदान जरूर दिया होंगा इसका अन्दाजा उनके पात्रों की सजीवता से, वैषिष्टयपरकता से तथा प्रसंगों के वैविध्यपूर्ण संचलन से लगाया जा सकता है। एक शहर स्थित किसान परिवार को मद्देनजर रखकर लेखक ने अपने उपन्यास में स्वावलंबन, कृषिजीवन तथा पुरोगामित्व को अधोरेखित किया है। सांस्कृतिक विशेषताओं का प्रभावी चित्रण करने की पुण्डलीक नायक तथा महाबलेश्वर सैल से चली आई परम्परा को कदम ने भी बखूबी निभाया है। अपने उपन्यास के द्वारा उन्होंने कृषि जीवन का जैसे सम्पूर्ण सांस्कृतिक आलेख पेश किया है, लेकिन लेखक को शहरी संस्कृति, वहाँ शिक्षिका माहौल, बौद्धिक प्रगतिशीलता का कमोबेश वातावरण तथा धर्म-जाति निरपेक्ष समाज व्यवस्था उतनी ही प्यारी है। इसलिए उन्होंने सैल की कृति से प्रेरणा लेते हुए भी उनसे दो कदम आगे जाकर समाज परिवर्तन तथा वैचारिक प्रगल्भता को केन्द्र बनाकर अपने चरित्र नायक-नायिकाओं को सकारात्मक बदलाव का आशास्थान बनाया है। भले ही उपन्यास का मूल सूत्र 'ग्राम वापसी लगे, लेकिन उसमें शहरी संस्कृति की उपेक्षा या विरोध नहीं है। ग्राम तथा उपनगरी जीवन को आमने-सामने रखकर लेखक ने दोनों परिवेशों में व्यक्ति की संभाव्य प्रगति तथा दुर्गति, शोषण तथा पुनरुज्जीवन को अच्छी तरह दर्शाया है। उनके दृष्टान्त का सबसे अहम् सूत्र है संघर्ष तथा प्रतिकार का निर्धारण और वह भी दुर्बल, समाज-भीरू एवं साधन सामग्री से वंचित उस सामाजिक घटक से जिसके पास केवल शिक्षा, आकांक्षा तथा कष्ट ही शस्त्र के रूप में विद्यमान है।

अशोक कामत का 'घणाघाय नियती चे' (नियति के हथोड़े की मार) एक और सदी-संधिकालीन उपन्यास है। इस कल्पित कथासूत्र को लेखक ने अपनी पीढ़ी के तथाकथित उच्चवर्णीय लेकिन दुर्बल, शोषित तथा उपेक्षित मानसिकता के उद्घाटन का माध्यम बनाया है। आत्मकथन की शैली तथा कथानक में ईईगिर्द बिखरे ऐतिहासिक तथ्य इस उपन्यास को पारतन्त्र्य में जन्मी मगर मुक्त गोवा में होश संभालनेवाली एक पीढ़ी के सामाजिक-सांस्कृतिक तथा वैचारिक जीवन यात्रा का। इसके तहत एक बदनसीब परिवार के जीवनसंघर्ष का यथार्थ चित्रण प्राप्त है लेकिन उससे ज्यादा उनके जीवन की विडम्बना का दर्शन है। अपनों के ही अन्दरूनी स्वार्थ, कपट तथा दुष्टता से सामन्तशाही वर्ग से जुड़े ही कुछ घटक किस तरह खाने पीने को ही नहीं बल्कि जीने को मोहताज हो जाते हैं इसका दिल दहला देनेवाला मगर यथार्थ चित्र **घणाघाय** में उभरता है। गरीबी, दुःख, और संवेदना किस तरह सामाजिक स्तरों की खोखली दीवार तोड़कर सहानुभूति तथा आधार का रिश्ता (किसी जमींदार तथा उनकी तथाकथित रयत में) कायम करा सकते हैं, इसका एहसास हमें इस

उपन्यास द्वारा होता है। उसी तरह कैसे नाम तथा घराने से जुड़ी खोखली प्रतिष्ठा कभी जरूरतमन्दों को मदद पाने से वंचित करती है, तो कभी स्वाभिमान की खाई लाँघकर अपनी बेबसी या अपने ऊपर होता अन्याय जाहिर करने से रोकती है इसकी भी झलक लेखक देता है।

इस उपन्यास का एक छोर राष्ट्रीय स्वतन्त्रता संग्राम को दूर से सही छूता है। असामयिक सामाजिक परिवर्तन के प्रयास, महात्मा जी के विचारों तथा आदर्शों का अतिरेकी अनुकरण, सवर्ण-हरिजन समानता लाने के प्रयास, छुआछूत की सामाजिक अनिष्ट प्रथा मिटाने के लिए प्रीति भोजन का आयोजन आदि घटनाएँ कथानक को पारिवारिक या व्यक्तिगत दायरे से उबारकर राष्ट्रीय वैचारिक दायरे में ला खड़ा कर देती हैं। लेकिन ऐसे प्रसंग बहुत कम हैं। उपन्यास का ज्यादातर संघर्ष आन्तरपारिवारिक स्वरूप का हिस्सा है जिस पर खलनायकी प्रभाव घर के सबसे वयस्क तथा सम्मानीय व्यक्ति-नायक के दादाजी का है। लेकिन इस संघर्ष का मूल अत्यन्त क्षुद्र कारणों में लिप्त है। इसलिए दुर्भाग्यपूर्ण है—शोकात्म नहीं। अन्त में उन्हें वाचक की ससंवेदना मिलती है, आदर मिलता है लेकिन एक Admiration नहीं मिल पाता जो एक त्रासदी नायक को मिलना चाहिए। इस वाचनीय प्रतिक्रिया में कथ्य का जितना सहभाग है उतना ही कथन शैली का भी। इसका पात्र गठन अच्छा है, प्रसंगों का छँटना उचित नहीं। इसलिए **घणाघाय** विश्वनाथ त्रिपाठी के आत्मकथनात्मक उपन्यास की याद दिलाकर भी उसके समान्तर नहीं चलता। जैसे विसंभर तथा उनका कथ्य हमें झकझोरता है वैसे घणाघाय के नायक का कथ्य नहीं झकझोरता। फिर भी एक अल्पसंख्य, समाज घटक के सुप्त यथार्थ को अधोरेखित करने का श्रेय **घणाघाय** के लेखक को जरूर जाता है।

उपसंहार

दिका हो या **घणाघाय** हो या पुण्डलीक नायक का हाल ही में प्रकाशित **गुणाजी** उपन्यास हो, सदी संधिकालीन उपन्यास लेखक आत्मानुभव की कसक लेकर उसे प्रतिभापूर्वक सृजन में ढल रहे हैं। उपन्यास में कल्पित का प्रयोग जरूर किया जाता है, लेकिन वह मात्र एक यवनिका की भाँति होता है। हल्के से भीतर सजी वास्तविकता की ओर प्रबल संकेत करता हुआ। एक और बात सदी संधिकालीन कोंकणी उपन्यास में दिखाई पड़ती है। कथ्य कलात्मकता से ज्यादा विश्वसार्हता का पक्ष लेता है। कल्पनाशक्ति पर ऐतिहासिक या व्यक्तिगत जीवनानुभूति के तथ्य हावी होते दिखाई देते हैं। लेखक को अपने सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक, परिवेश को उजागर करने का आह्वान, कालातीत प्रसंग या यादगार पात्र निर्मित से ज्यादा प्रभावी लगता है। स्व' का महत्व कथन में होकर भी कथ्य के द्वारा उसका प्रतिनिधिक स्वरूप वाचक को आकर्षित करता है। सदियों से दबे, छुपे, अनदेखे तथा व्यक्तिमात्र सदी संधिकालीन, सर्जक को मोहित कर रहे हैं। सामाजिक परिवेश हो या प्राकृतिक, लेखक अपनी परिवेशिक प्रतिबद्धता को प्राथमिकता देने लगा है। इसका एक सुन्दर उदाहरण गोकुलदास प्रभु की पृथिवै नमः उपन्यास में मिलता है। जैसे **दिका** में नायक गाँव की ओर मुड़कर अपने आपको पाता है, उसी तरह इसका शहरी नायक भी गाँव लौटकर ग्राम जीवन, कृषि संस्कृति तथा प्रकृति से फिर से जुड़ जाता है। यह संस्कृति-प्रकृति का गठबंधन ही स्वसंस्कृति से स्वभाषा से वंचित रहे कोंकणी वाचकों को सदी संधिकालीन कोंकणी उपन्यास का देय है और उसका अपना श्रेय भी।